International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232, Impact Factor: RJIF 5.22
www.hindijournal.com
Volume 3; Issue 1; January 2017; Page No. 07-09

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में संत साहित्य का वैशिष्टय

डॉ0 ऊषा रानी

सहायक आचार्य हिन्दी विभाग, अन्तर्राष्ट्रीय दूरवर्ती शिक्षा एवं मुक्त अध्ययन केन्द्र, शिमला, हिमाचल प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

संत साहित्य प्रश्न संकुलता की दृष्टि से अद्वितीय है। संत हिन्दी आलोचना का पारिवारिक शब्द है। वैसे तो काफी पुराने जमाने से इस शब्द का छिट–फुट प्रयोग होता आया है लेकिन आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के भक्ति साहित्य में प्रयोग की बहुलता की दृष्टि से ही नहीं अर्थ मर्यादा के विचार से भी यह शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है। सगुण भक्ति का साहित्य हो या निर्गुण भक्ति का इस विशाल वाङमय में संत शब्द सदसद विवेकशील आराग, अलेप और आचरणशील महापुरुष के अर्थ में निरपवाद रुप से व्यवहृत हुआ है और सर्वत्र संतों को परम्ब्रहम् का प्रतिरुप माना गया है।

आधुनिक भारतीय अर्थ भाषाओं के समस्त भक्ति साहित्य के संत और भक्त शब्द समानार्थक या एकार्थक रुप में प्रयुक्त हुए हैं जबकि हिन्दी आलोचना में ये दोनों एकाएक भिन्नार्थक ही नहीं विपरीतार्थक भी हो गए हैं, हिन्दी आलोचना में सगुण बह्म में आस्था रखने वालों को भक्त कहा जाता है और निर्गुण बह्म में आस्था रखने वाले को संत कहा जाता है। भक्तों के विषय में भक्त और संत में माने जाने वाले 'भक्तमाल' में भक्त और संत में कोई भेद नहीं किया गया है। वहां कबीर भी भक्त है और तुलसी भी। जबकि हिन्दी आलोचना में आजकल तुलसी को संत कहना या कबीर को भक्त कहना अज्ञान का सूचक माना जाता है। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि, ''सन्त शब्द की व्युत्पत्ति ढूंढने के क्रम में विद्वानों में संस्कृत के सत् सत् शान्त एवं अंग्रेजी के सेन्ट आदि शब्दों की समीक्षा तथा प्रयोग एवं अर्थगत विभिन्नता की पर्याप्त छान बीन की है।''[1] सामान्यतः इन्हीं स्थितियों में एक शब्द की कई –कई व्युत्पत्तियां सामने आती हैं।

भारतीय भाषाओं में साहित्य के यह अत्यंत प्राचीन काल से प्रयुक्त होता आया है।[2] ऋग्वेद और तैत्तिरीय उपनिषद इसका प्रयोग एक एवं अद्वितीय परमतत्व के लिए एक वचन में किया गया मिलता है। महाभारत में इसका प्रयोग सदाचारी के अर्थ में हुआ है और संतों को आचारलक्ष्ण कहा गया है। भागवत में यह पवित्रात्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और बताया गया है कि संसार को पवित्र करने वाले होते हैं।[3] भ्रतृहरि में सन्त शब्द का प्रयोग परोपकार परायण व्यक्तियों के लिए किया है। उनके अनुसार संत स्वेच्छा से दूसरों का हित करने में लगे रहते हैं। उनका मन, वचन और शरीर पुण्य के अमृत से लबालब होता है अपने उपकारों से वे तीनों लोकों को प्रसन्न करते रहते हैं। और दूसरों के छोटे से छोटे गुण को पर्वत जैसा बड़ा मानकर हृदय में उल्लासित होते रहते हैं। भ्रतृहरि का अनुभव है कि दूनियां में ऐसे लोग बहुत हैं कालीदास ने संत शब्द का प्रयोग बुद्धिमान एवं सदसद्विवेक शील के अर्थ में किया है। कबीर के अर्थ में संत वे हैं जिनका कोई शत्रु नहीं है। जो निष्काम वृति वाले हैं सांईं से प्रीति करते हैं। और विषयों से निर्लिप्त होकर रहते हैं।[4] सुखी अकेला संत है जिसने मन को जीत लिया है। शरीर केले का वन है मन मदमत्त गज है ज्ञान अंकुश है और संत महावत है जो मन को शरीर नाश अपवारित करते हैं।[5]

संत विवेकशील सारग्राही तथा निष्काम भक्त होते हैं वे भोग और मोक्ष नहीं चाहते वे केवल भक्ति चाहते हैं। माया, कनक, –कामिनी और मादक द्रव्यों से सवर्धा और सर्वदा मुक्त रहते हैं। माया संतों की दासी है। माया डाकिनी है सबको निगल जाती है पर जब संतो के निकट जाए तो उनके दांत उखड़ जाते हैं जिस माया के आगे पीछे सारा संसार भागता है वह माया संत के आगे पीछे हाथ बांधे खड़ी रहती है। समानचित और सरल स्वभाव वाले संत सदा सारी दुनिया का हित सोचते हैं संत भ्रमर की तरह गुणग्राही निर्मल जल की तरह स्वच्छ और मोह –मद हीन हृदय वाले होते हैं। संत दूसरों के हित के लिए भूर्जतरु की तरह अपनी खाल उधेड़ने वाले जैसी भीषण विपत्ति सहन करते हैं। अरण्य काण्ड में संत लक्षणों का निर्देश करते हुए राम नारद को बताते हैं 'विप्रपदप्रेम' संत की विशेषता है। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं –

> 'सापत ताड़प पुरुष कहता
> विप्रपूज्य अस गावहिं संता'[6]

मध्यकालीन संतों का काव्य प्रधानतः अनुभूति की अभिव्यक्ति है। उनके आध्यात्मिक विषय ब्रह्म, जीव, जगत आदि सम्बन्धित हैं। जीव को साध्य तक पहुंचाने के लिए सहायक शक्तियां उपयोगी सिद्ध होती हैं तथा अवरोधक शक्तियां निरन्तर बाधा उपस्थित करती रहती हैं।

भारतीय स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक की रुचि, प्रकृति एवं प्रवृत्ति भिन्न है। कहा भी है ''भिन्न रुचिर्हि लोक''[7] अतः सामाजिक व्यक्ति अलग अलग रुचि वाले होते हैं। इसीलिए उनके गुण, कर्म, स्वभाव, क्षमता एवं योग्यता में भी विविधता होती है। भारतीय समाज के वर्गीकरण का यही आधार है। अपने स्वभाव, गुण एवं कार्य के अनुरुप वह घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। इन वर्गों एवं वर्णों का सम्बन्ध कर्म से है, न कि जन्म से जैसा कि प्रायः आजकल समझा जाता है। एक ही परिवार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विकास होता है। मेधावी वेद आदि शास्त्रों का, अथवा अन्य किसी भी ज्ञान विज्ञान का अध्ययन करके पढ़ाने का कार्य करने वाला ब्राह्मण हो सकता है। साहसी वीर देश की रक्षा करने वाला क्षत्रियत्व का परिचायक है। व्यापार आदि साधनों से धन अर्जित करने वाला वैश्य कहला सकता है। और उपयुक्त वौद्धिक विकास के आभाव में शारीरिक श्रम आदि द्वारा जन सेवा करने वाला शूद्र हो सकता है। जन्म से अपने को उच्च वर्ण का समझने वाले ब्राह्मणों को क्रांतिवीर कबीर आदि संतों से झाड़ खानी पड़ी और कर्म के महत्त्व को न समझ कर आडम्बरपरक जन्माधारित जाति –पाति के बन्धन शिथिल करने पड़े। तुलसी ने पुनः इस दुर्भावना को दूर कर उचित वर्ण व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न किया।

गुण, कर्म, स्वभाव एवं अर्थ की दृष्टि से विषमता और विविधता होते हुए भी भारतीय मानवीय धरातल पर मानव की एकता में विश्वासी हैं। ''संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मानसि जानताम्'' इक्ट्ठे चलें, एक जैसा वोलें और हम सब के मन एक जैसे हो जावें, यह भावना हमारे यहाँ प्राचीन काल से चली आ रही है। इसलिए यहां राजा और रंक, धनवान और संत सब एक साथ बैठकर भोजन कर सकते हैं। यद्यपि जाति –गत दुर्भाव अभी समाप्त नहीं हुआ, परन्तु मूलतः भारतीय मानवीय एकता में विश्वासी हैं। सभी गंगा में स्नान कर

सकते हैं मन्दिर में जा सकते हैं। सभी यज्ञ करने का और सभी देवी देवताओं को अपना इष्ट स्वीकार कर उनकी उपासना एवं भक्ति का सभी को एक जैसा अधिकार है। इतना ही नहीं, यहां तो इससे आगे बढ़कर यह भी कह दिया गया है –

''विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनिचैव श्वयाके च पडिताः समदर्शिनः ।।''[8]

वे पण्डित जन विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण में चण्डाल में तथा गौ, हाथी और कुत्ते में भी समदर्शी होते हैं। अर्थात सभी में उस ब्रह्मा तत्व को अनुभव करते हुए सबको एक भाव से देखते हैं। इसलिए इस देश देश के सामाजिक एवं धार्मिक नेता जुलाहा कबीर, चमार रविदास, छीपा नामदेव, कसाई सधना, जाट धन्ना, मोदी खाने के तौलिया गुरू नानक तथा भक्ति एवं शक्ति का प्रसारक गुरू गोबिन्द हुए हैं और आज भी समाज में वे विशेष रूप से समादृत हैं।

जीवात्मा

संतों ने यह अनुभव कर लिया है कि चाहे सारा संसार मर जाए, लेकिन पवित्र आत्मा अमर है और अस देही को देही में धारण करने वाला जीव तो संसार रूपी सुन्दर उपवन का पक्षी रूपी अतिथि है। अतः उसे घमण्ड कैसा? यह सुन्दर देह रूपी वर्तन शीघ्र ही टूट जायेगा तथा जीवन नष्ट हो जायेगा। अतः हे आलस्य में पड़े हुए जीव! यह न भूल कि मानव देह को तू आसानी से नहीं पा सकता, क्योंकि आवश्यक नहीं कि मृत्यु के बाद मानव –जीवन ही मिले। 'इहु तनु होसी खाक' अथवा गलने पर इसे तो कीड़े खा जायेंगे इन सब बातों को ध्यान में रख कर जीव को यथाशीघ्र ही भगवान में चित्त लगाना चाहिए, लेकिन मायालिप्त जीव कैसे समझें? अतः संत तो यह कह कर शान्त हो जाता है –

''हंसु चलसी डुमणा अहि तनु ढेरी थीसी।''[9]

कहा जा सकता है कि यह आत्मा चली जाएगी और देह धूल की ढेरी मात्र बनी रह जायेगी अतः जब देह ही अस्थिर है तो इस देह के कारण उत्पन्न सम्बन्धों की स्थिरता में क्या विश्वास है?
संतों के लिए यथा नाम तथा गुण की उक्ति यहां पूर्णतया चरितार्थ होती है, यह तो कथनी और करनी में ऐक्य वाले संतों से भी एककदम आगे उन दोनों का 'नाम' से भी ऐक्य स्थापित करने वाले सिद्ध हुए।

साधन

साध्य है नामे चे सुआयी बीठलों और उसका मार्ग ऐसा है
जिउ आकासै पंखी अलो खोजु निरखियो न जाई,
जिउ जल माझै माछली मात्गु वेखण न जाई।।''[10]

कितनी सत्य अनुभूति है, भगवत्प्राप्ति का मार्ग आकाश में पक्षी और जल में मछली के मार्ग से कुछ भी तो भिन्न नहीं नामदेव भी ऐसे ही पथ का पथिक रहा था। इसीलिए उसे इस कठिनाई का ज्ञान था, तभी लौकिकों के लिए उसने समाधान प्रस्तुत किया है कि भगवत्प्राप्ति के लिए भगवत्कृपा ही सर्वोत्तम साधन है।
जिन परिस्थितियों में गुरू नानक अविर्भूत हुए थे, वे विलक्षण थी पूर्ववर्ती सन्तों ने राजनैतिक, समाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का अपने क्रियात्मक जीवन तथा सशक्त साहित्य के माध्यम से ऐसा आलोड़न विलोड़न किया हुआ था, जिसमें गुरू नानक जैसे नवनीत का उद्भव स्वाभाविक ही था। गुरू रामानन्द ने तो सभी जातियों से आने वाले भक्तों की ही एक जाति बनाई थीः–

'जाति–पाति पूछै नहिं कोई
हरि को भजै सो हरि का होई।।''[11]

लेकिन गुरू नानक ने तो इससे भी आगे बढकर इन सभी बन्धनों को तोड़कर मानव की एक ही जाति बनाने का प्रयत्न किया। जन्म से जातीय भेद रखने वाला मरदाना उनका जीवन भर का साथी और सहज आत्मीय था। उन्होंने वाणी से मात्र उपदेश ही नहीं दिया, अपितु वैयक्तिक जीवन मे आचरित कर उसका क्रियात्मक संदेश दिया है यही कारण है कि उनके सन्देश में स्थापितत्व का बल मिलता है।

''जागणु जोति न पूछहूँ जाति अगै जाति न है।''
वस्तुतः इस जातिय भेद को दूर करने में उनका अटूट विश्वास था।

बह्म

ब्रह्म का महामात्य तो इतने से ही स्पष्ट है कि उनको गुणाकिंत करने के लिए अनपढ़ कबीर को भी 'वसुधा कागदु' तथा 'सात समुंदहि मसि' अत्यल्प ही प्रतीत हुई उनके अनुसार,

''कबीर सात समुदहि मसि करउ
कलम करउ बनराई
बसुधा कागद जउ करऊ
हरि जसु लिखतु न जाई।।''[12]

स्पष्टतः वे अन्त के अनन्त महात्मय का अन्त कहां। न केवल सुरपति, नरपति उसकी महिमा को कहने में असमर्थ हैं अपितु चारों वेद स्मृति तथा पुराण भी इसके महत्व का वखान करने में अशक्त है।
अन्य सन्तों की भक्ति रविदास भी दार्शनिक न होकर, अध्यात्मपथ के पथिक सन्त ही थे। वस्तुतः उसके संत–व्यक्तित्व में से भी साधक रविदास का रूप ही अधिक उभरकर सामने आता है। कबीर शीघ्र ही अपने साध्य तक पहुंच गए थे। ऐसी अवस्था में वे भक्तों को ही नहीं, अपितु जन–सामान्य को भी अपने पथ पर खींच रहे थे। रविदास जीवन के अन्त तक पथिक ही बने रहे।

माया

माया ही एक मात्र ऐसी शक्ति है जिसने आत्मा और परमात्मा के मध्य भेद की खाई खोद दी है और वह इसे भरने नहीं देती। यह माया 'सभु जगतु, बिआपियों है और यही न केवल भ्रम का फांस है, अपितु इसने तो मनु माइया के हाथ बिकानउ है। जिसने मानव–मन को खरीद लिया है माया के हाथ बिके हुए मन को 'बिखिआ बिमोहिया' तथा उसे कुछ आरा–पारू न सूझे। जब उसे कुछ सूझता नहीं तथा वह कहीयत आन अचरीअत आन कछु। ऐसी अवस्था में विषय–लिप्त मन की सबल इन्द्रियां घेर लेती हैं क्योंकि इन्द्री सबल और निर्बल विवके बुद्धि यथा–

इन पंचन मेरो मनु जु विगारियो
पलु–पलु हरि जीते अंतरू पारिओ।।[13]

अतः इस प्रकार अन्तर की इस खाई को बढ़ाने वाली एक नहीं सभी इन्द्रियां जो एकत्रित हो गईं वहां अकेला जीवन वेचारा क्या कर सकता है। माया ब्रह्म की शक्ति है। वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म ही माया शबलित होकर सगुण हो जाता हैं उससे संयुक्त होकर ही ब्रह्म विश्व की उत्पत्ति करता है और तब वह ईश्वर कहलाता है। इस जगत के संत्रस्त कार्य–व्यापारों के कारण शक्तियों का सामूहिक रूप माया है। माया परमेश्वर की बीजशक्ति है। दूध का दही में, मिट्टी का घड़े में और सुवर्ण का आभूषणों में रूपान्तरित हो जाना ही परिणाम है सच तो यह है कि सृष्टि रचना के लिए ईश्वर माया पर अवलम्बित है और ईश्वर का ईश्वरत्व सृष्टि पर आधारित है।
मध्ययुगीन भारत में संतो के भी संत रविदास का समाज की प्रकार में प्रत्युत्तर में यह सामाजिक समता का स्वर निनादित हुआ था। सम्भवतः आज भी पांच, छह सौ साल बाद गांधी जी को इसीलिए

हरिजन पत्र चला कर हरिजन कालोनी में ही रहना पड़ा था मध्ययुग का एक विख्यात चमार हरिजन बन गया था, इसीलिए आधुनिक युग की एक दैवी आत्मा को उससे मिलने के लिए ही हरिजन के स्तर तक आना पड़ा था। यह है विखयात चमार की महानता और यदि सारी विचारधारा, तथा सारे कार्यों को शब्दों में आबद्ध करना हो तो उनके ही इन शब्दों से अधिक अच्छे रूप से नहीं किया जा सकता जाति भी ओछी कर्म भी ओछा, ओछा जन्मु हमारा नीचे से प्रभु ऊँच कियो है कह रैदास चमारा
इसलिए अपने अनुभूति का सार वे इस रूप में कह गए हैं–

> ''हरि सा हीरा छाड़ि के करे आन की आस
> ते नर जमपुर जाहिगे सत भाषै रैदास।।''[14]

और युग युगान्तर तक इस सत्य को जगत जीवन की कसौटी पर कसता रहेगा।
सन्तों ने समाज सुधारक व्यक्तित्व का प्रस्फुटन खण्डात्मक शैली के माध्यम से किया है इसलिए अनुचित का खण्डन किए बिना उनसे न रहा गयां मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, तप, जप, व्रत, मालज, हज्ज, रोजा, निमाज, बांग आदि सभी औपचारिकताओं का खण्डन उनका प्रमुख विषय रहा है। सन्त कवियों ने पंडित और ब्राह्मण को मुल्ला तथा मौलवी को, योगी तथा ब्रह्मडम्बरी को सभी पर अपनी शब्दावली से प्रतिरोध का स्वर उठाया है।
मानव–मानव को एकता का संदेश देने वाले जीवन में आलौकिक रस का संचार करने वाले, विश्व में शान्ति का प्रचार करने वाले सन्तों ने जिस मध्ययुगीन चेतना का विकास और प्रसार किया तथा प्रतिरोध कर स्वर उठाया उसने संतों को ही अमर कर दिया।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. डॉ0 राजदेव सिंह, शब्द और अर्थ : संत साहित्य के संन्दर्भ में, प्रथम संस्करण, पृ. 57
2. सुर्पण विप्रा : कनयो वचोभिरेकं संत बहुधाकल्पयन्ति। ऋग्वेद 10,114,5
3. असदेव स भवति असदबहोति चेत वेद । अस्ति बहोति चेत वेद संतमेन ततो विदुरिति पृ. 2,6,1
4. आचार लक्षणोधर्मः सन्तश्चाचारलक्ष्णः महाभारत
5. प्रायेणतीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानिपुनन्ति सन्तः । भागवत 1,19,8
6. सन्त स्वयं परहिते विहिताभियोगाः ।
7. कबीर ग्रन्थावली पृ. 156
8. वहीं, पृ. 225
9. गुरु गोबिन्द विप्रपद प्रेमा मानस दोव 43, पृ. 2
10. डॉ. धर्मपाल मैनी, मध्य युगीन निगुर्ण चेतना, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972, पृ. 99 से उद्धृत।
11. वही, पृ. 110
12. वही, पृ. 115
13. वही, पृ. 145
14. वही, पृ. 151